

# पूर्व मध्यकाल में राजनीतिक विकेन्द्रीकरण और आर्थिक संरचना : एक अवलोकन

## सारांश

पूर्व मध्यकाल में भारतीय संदर्भ में राजनीतिक स्तर पर सामंतवाद प्रमुख रूप से राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का द्योतक है। यही सामंतवाद एक विशिष्ट प्रकार के 'सामाजिक संरचना' और आर्थिक व्यवस्था से भी सम्बन्धित है। इस प्रकार सामंतवाद में कुछ विशुद्ध राजनीतिक और सांस्कृतिक तत्व भी विद्यमान हैं। 'भूमि' ही उत्पादन व्यवस्था का मुख्य आधार, प्रमुख स्रोत थी। किसी भूखण्ड पर किसानों के अधिकार बहुत कम और भूस्वामियों को बहुत अधिक अधिकार प्राप्त थे। भूमि-अनुदान व्यवस्था के स्वरूप से निस्संदेह रूप से यह आभास होता है कि भूस्वामियों ने उत्पादन के साधनों पर अपना सामान्य नियंत्रण स्थापित करके उसका भरपूर लाभ उठाया। प्रारंभिक ऐतिहासिक काल से पूर्व मध्यकाल तक के परिवर्तन के विचार किसी न किसी रूप में क्लैसिकल से पूर्व मध्यकालीन यूरोप तक के परिवर्तन से तुलनीय है। इस व्यापक ढांचे में अनेक विभिन्नताएँ भी हैं, किन्तु यह विभिन्नताएँ व्यक्तिगत इतिहासकारों के परिवर्तन सम्बन्धी विवेचनों की पद्धतियों पर निर्भर करती हैं।

**मुख्य शब्द** : पूर्व मध्यकाल, सामंतवाद, भूमि-अनुदान, राजवंश, साम्राज्य, प्रशासन, कृषक।

## प्रस्तावना

पूर्व मध्य काल की ऐतिहासिक रचनाओं में इस कालावधि को छठी सदी के मध्य और गुप्तोत्तर स्तर में विभाजित किया गया है, जो बारहवीं सदी के अन्त तक विस्तृत है जब, तुर्क शक्ति ने उत्तर भारत में अपनी राजनीतिक सत्ता सुदृढ़ करना प्रारम्भ किया।<sup>1</sup> इस प्रकार के काल विभाजन में प्रमुख तत्व गुप्त शासन के प्रकृति के प्रति इतिहासकारों की अवधारणा है। अपने पूर्वज मौर्यों की तरह गुप्त भी साम्राज्य के एक युग का प्रतिनिधित्व करते दिखाई पड़ते हैं। एक साम्राज्य की अवधारणा अनेक करिश्माई राजसी व्यक्तित्वों के सैनिक उपलब्धियों द्वारा निर्मित राजनीतिक ढांचे के रूप में की जाती है। इसके साथ ही यह दीर्घकालीन विदेशी शासन से उत्तर भारत की मुक्ति और विघटनकारों तत्वों के सफलतापूर्वक दमन से प्राप्त राजनीतिक एकता का परिणाम भी है।

गुप्तों के संदर्भ में उनका उदय उत्तर भारत में शक्ति के विभिन्न क्षेत्रों की उपस्थिति की पृष्ठ भूमि में दिखाई पड़ता है, जो 'विदेशी' कुषाणों के अन्तिम शासकों, गण-संघ जनपदों और छोटे-छोटे शासकों (देशी राज्यों)<sup>2</sup> द्वारा नियंत्रित थे। गुप्त राज्य के ढांचे के विकास के इतिहास के दृष्टि से गुप्तों का राज्य (स्टेट) मूलतः एक ऐसा राज्य था जो सम्भवतः विद्यमान था और एक आदर्श (नमूने) का प्रतिनिधित्व करता था।<sup>3</sup> लघुक्षेत्रों वाले छोटे राज्य मापदण्ड से पृथक थे और राजनीतिक मानचित्र पर उनकी उपस्थिति केवल एक ऐसी स्थिति की ओर संकेत करती है जिसमें विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियाँ व्यापक थीं। अपेक्षाकृत विशाल आकार वाले राज्यों की उपस्थिति, जैसे गुर्जर-प्रतिहारों का राज्य (आठवीं सदी के द्वितीय चतुर्थांश से दसवीं सदी के मध्य) और पालों का राज्य (आठवीं सदी के मध्य से प्रारंभिक बारहवीं सदी) और व्यक्तिगत सम्राटों की सराहनीय उपलब्धियों के बावजूद गुप्तोत्तर काल आदर्श मापदण्ड से गिरता दिखाई पड़ता है।<sup>4</sup>

## अध्ययन का उद्देश्य

यद्यपि उत्तर भारत के राज्य और अर्थव्यवस्था के विश्लेषण के दृष्टिकोणों में मौलिक परिवर्तन हो गये हैं किन्तु प्रारंभिक भारतीय राज्य, अपने स्थायी ढांचे अथवा संकट के रूप में, गुप्तोत्तर कालीन परिवर्तनों की व्याख्या के लिए एक सशक्त साधन के रूप में आज भी मान्य है।<sup>5</sup> इसका तात्पर्य यह नहीं

**जितेन्द्र सिंह नौलखा**  
असिस्टेंट प्रोफेसर,  
प्राचीन इतिहास विभाग,  
के०एन०पी०जी० कॉलेज,  
ज्ञानपुर, भदोही,  
(उ०प्र०)

**विनोद कुमार**  
शोध छात्र  
प्राचीन इतिहास विभाग,  
के०एन०पी०जी० कॉलेज,  
ज्ञानपुर, भदोही,  
(उ०प्र०)

है, कि नवीन दृष्टिकोणों में राज्य को पूर्वी निरंकुशवाद (ओरिएन्टल डिस्पॉटिज्म) का एक प्रकार माना गया है अथवा सम्राटों के उपलब्धियों को सामाजिक प्रगति एवं स्थायित्व से जोड़ा गया है। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रारंभिक भारतीय राज्य की अवधारणा एक स्थिर क्षेत्रीय आधार के साथ एक स्थिर ढांचे के रूप में अभी भी विद्यमान है। अतः 'विकेन्द्रीकरण' अथवा 'विखण्डन' की अवधारणायें ढांचे के विघटन और हीन राजनीतिक व्यवस्था के अर्थ में प्रायः प्रयुक्त की जाती हैं।

भारतीय संदर्भ में यद्यपि सामंतवाद की कतिपय विशेषतायें प्राक-गुप्तकाल में दिखाई पड़ने लगती हैं किन्तु सामंती जीवन पद्धति के विकास के संकेत गुप्त राजाओं और हर्ष के काल में खोजे जा सकते हैं। इस काल में सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई कि जमीन वाले एक मध्यवर्ती वर्ग का विकास हुआ। ब्राह्मणों को भूमि अनुदान दिये जाने से यह वर्ग विकसित हुआ। उन्हें गांवों में इस भूमि पर पूरा मालिकाना अधिकार मिला हुआ था। हर्ष के राज्यकाल में उच्च अधिकारियों को अपने रख-रखाव के लिए भूमि अनुदान दिये गये। गुप्त सम्राटों द्वारा भूमि-अनुदान दिये जाने के अभिलेखीय साक्ष्य नहीं मिलते, किन्तु उनके सामंतों के समय यह एक आम प्रथा बन गयी थी। इसके बाद जो राजवंश आये उनके काल में इस तरह भूमि अनुदानों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। इसी काल में तथाकथित राजपूतों का आविर्भाव हुआ और राजनीतिक इतिहास में उन्होंने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ये सभी प्रश्न भारतीय इतिहास में प्राचीन काल से मध्यकाल में परिवर्तन की समस्या के अंग हैं।

निहार रंजन रे बंगाल के क्षेत्रीय संदर्भ में नये राज्य के ढांचे और आर्थिक व्यवस्था के विकास को पूर्व मध्य काल के अखिल भारतीय पृष्ठ भूमि में एक स्तरीकृत राजनीतिक व्यवस्था के रूप में प्रमुखता प्रदान करते हैं जिसका प्रतिनिधित्व सामन्तों, को कम कर दिया।<sup>8</sup> उनके अनुसार नयी अर्थव्यवस्था की विशेषता है—स्थानीय कृषिपरक अर्थव्यवस्था जिसमें विशाल रूप से प्रारंभिक ऐतिहासिक काल का वाणिज्यीय साहस और स्वाभाविक विशिष्टता नहीं मिलती। डी0डी0 कोसाम्बी<sup>9</sup> ने परिवर्तन की उत्पत्ति को भारतीय सामन्तवाद के द्वि-स्तरीय सिद्धान्त से व्याख्यायित करने का प्रयास किया, जिसके अनुसार सामन्तवाद का प्रारंभिक स्वरूप 'ऊपर से सामन्तवाद' है, जिसमें साम्राट और उसके सहायक, उपहार देने वाले किन्तु स्वायत्तशासी शासकों में सीधा सम्बन्ध था और मध्यवर्ती स्तर के भूमि धारक अनुपस्थित थे। दूसरे चरण में गांव में भूधारणों का एक वर्ग विकसित हुआ जो किसान एवं राज्य के मध्य स्थित था और इसने धीरे-धीरे स्थानीय जनसंख्या पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।<sup>10</sup>

सामन्ती मापदण्ड से प्रारंभिक भारतीय समाज, राज्य एवं अर्थव्यवस्था की व्याख्या परम्परागत राजवंशों के परिवर्तनों पर आधारित परिवर्तन की व्याख्या से भिन्न है जिसकी अनेक भारतीय इतिहासकारों ने आलोचना की है। नये दृष्टिकोण पर आधारित व्यवहारिक शोधों को समायोजित करते हुए आर0एस0 शर्मा ने अपने 'इण्डियन पयूडलिज्म' में भारतीय सामन्तवादी विचारधारा का व्यापक

विवेचना प्रस्तुत किया है, जिसमें भारतीय सामन्तवाद के सामाजिक-आर्थिक राजनीतिक ढांचे को भूमि-अनुदानों से सम्बद्ध किया गया है और भूमि-अनुदान को परिवर्तन का प्रमुख कारक माना गया है।<sup>11</sup> गुप्त वंश के पतन के बाद विकेन्द्रीकरण और क्षेत्रीयता की प्रवृत्तियां सम्पूर्ण पूर्व मध्यकाल में हाबी रहीं और ये प्रवृत्तियां सामन्तवादी व्यवस्था की ही अंग हैं।<sup>12</sup> यद्यपि यह सच है कि कुछ विशाल शक्तियां भी इस काल में सामने आयीं किन्तु किसी भी दृष्टि से उन्हें अखिल भारतीय नहीं कहा जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि सापेक्षिक रूप से ये बड़े राज्य भी पारस्परिक संघर्षों में रत रहे। पूर्व मध्यकाल की एक अन्य महत्वपूर्ण गतिविधि थी—भारत में अरबों का आक्रमण एवं इस्लाम धर्म का प्रवेश, जो अरबों के माध्यम से हुआ। यदि तत्कालीन राजनीतिक दृष्टि से देखा जाय तो यह कहा जा सकता है कि अरबों ने एक ऐसी चुनौती प्रस्तुत की जिसका सामना करने के लिए विभिन्न शक्तियां उदित हुईं जो भारत में आगामी तीन सौ वर्षों तक बनी रही। गुर्जर प्रतिहारों, पालों और कश्मीर के राजाओं की प्रतिष्ठा का एक प्रमुख कारण उनके द्वारा अरबों का विरोध है।<sup>13</sup>

आठवीं शताब्दी के मध्य में भारत में तीनों कोनों में तीन शक्तिशाली राजवंशों का उदय हुआ, वे थे—दक्षिण में राष्ट्रकूट, पूर्व में पाल और पश्चिमी तथा उत्तरी भारत में गुर्जर प्रतिहार। परन्तु इस समय कन्नौज की स्थिति सर्वाधिक कमजोर थी, जिसका इन शक्तियों ने लाभ उठाना चाहा। चूंकि कन्नौज अब उत्तर भारत की राजनीतिक शक्ति का गुरुत्वाकर्षण केन्द्र था, अतः ये तीनों शक्तियां कन्नौज पर अधिकार करके उत्तर भारत के अधिकांश भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहती थी। आठवीं शताब्दी में सिन्ध पर अरबी अधिपत्य अभी भी बना हुआ था। हर्ष के समय से कन्नौज ने उत्तर भारत के एक प्रमुख नगर का स्थान ग्रहण कर लिया था। गंगा के तट पर स्थित होने के कारण नदी-मार्ग से होने वाले व्यापार की दृष्टि से उत्तर एवं पूर्वी भारत के मध्य वह बहुत महत्वपूर्ण कड़ी थी। कन्नौज का क्षेत्र गंगा और यमुना के मध्य स्थित होने के कारण भारत का सर्वाधिक उपजाऊ क्षेत्र था। इसके अतिरिक्त पालों और गुर्जर प्रतिहारों दोनों के लिए अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए इससे अधिक उपयुक्त क्षेत्र नहीं हो सकता था। साथ ही राष्ट्रकूटों ने गुर्जर-प्रतिहारों के प्रति अपने विरोध और अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं की कीर्ति पताका चारों दिशाओं में फहराने के लिए इस संघर्ष में सक्रिय रूप से हस्तक्षेप किया। इस त्रिपक्षीय संघर्ष का कारण कन्नौज नगर पर अधिकार करने की महत्वाकांक्षा कम नहीं थी, गुप्तोत्तर काल के बाद कन्नौज का वही स्थान हो गया था जो मगध साम्राज्य के इतिहास में कभी पाटलिपुत्र का था। कन्नौज अब उत्तर भारत की राजनीतिक धुरी का प्रतीक था।

प्रतिहार साम्राज्य पर राष्ट्रकूटों तथा पाल वंशीय शासकों के आघात के कारण कन्नौज की केन्द्रीय शक्ति पर भी आघात लगा। प्रतीहारों के सामंत गुजरात के चालुक्य, जेजाक भूक्ति के चन्देल, ग्वालियर के कच्छपघात, मध्य भारत के कलचुरी, मालवा के परमार,

दक्षिण राजस्थान के गुहिल, शाकंभरी के चौहान (चाहमान) आदि प्रान्तीय तथा क्षेत्रीय स्तर पर स्वतंत्र हो गये। परन्तु यह उल्लेखनीय है कि हर्ष के बाद प्रतिहार शासकों ने उत्तरी भारत को राजनीतिक एकता प्रदान की और अरबों को सिन्धु से आगे नहीं बढ़ने दिया। बंगाल के पाल वंशीय शासक धर्मपाल (लगभग 770-890ई0) ने भी बंगाल को उत्तर भारत के प्रमुख राज्यों की श्रेणी में स्थापित किया और प्रतिहार शक्ति पर राष्ट्रकूटों के आघात का लाभ उठाकर कन्नौज पर आक्रमण करके चक्रायुद्ध को अपने संरक्षण में कन्नौज का शासक बनाया और यवन (सिंध के अरब शासक) और गंगाधर (पश्चिमी पंजाब तथा पूर्वी काबुल घाटी) के शासकों को भी अपने अधीन किया। कन्नौज पर अधिकार के लिए होने वाली त्रिपक्षीय संघर्ष की समाप्ति के पश्चात् कन्नौज के वैभव को गहड़वालों ने ग्यारहवीं सदी के अन्तिम चरण में जीवन प्रदान किया।

राष्ट्रकूटों, प्रतिहारों एवं पालों के संघर्ष ने इन तीनों राज्यों को निढाल कर दिया जिससे इनके सामन्त लाभान्वित हुए और फलस्वरूप समस्त उत्तरी भारत में छोटे-छोटे प्रादेशिक राज्य स्थापित हो गये। सामन्तों की अवज्ञा और उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण के आक्रमणों ने उत्तरी भारत की सही-सही एकता को भी नष्ट कर दिया। अब इन तीन प्रमुख राज्यों की परिधि पर अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये और ये राज्य थे नेपाल, कामरूप, कश्मीर तथा उत्काल। इसी प्रकार पूर्वी तट पर पूर्वी चालुक्यों तथा गंगों के राज्य, तथा पश्चिम भारत में गुजरात के चालुक्यों (सोलंकीयों) के राज्य थे। इन राज्यों के उदय होने के साथ ही इस समय छोटे स्थानीय शासकों में स्वयं को स्वतंत्र एवं पूर्ण-सत्ता-सम्पन्न राजा घोषित करने की स्वाभाविक होड़ भी बढ़ी। यही स्थानीय प्रवृत्ति इस काल में सांस्कृतिक जीवन में भी झलकती है। लगभग 750ई0 से 1000ई0 के मध्य प्रतिहार एवं पाल राजाओं के उपाधियों से सामन्तवादी सम्बन्धों का पता चलता है। परवर्ती गुप्त राजाओं और पाल तथा प्रतिहार राजाओं ने परमभट्टारक, परेश्वर और महाराजाधिराज आदि विरुद्ध धारण किये और भट्टारक, ईश्वर तथा राजा के रूप में छोटे-छोटे नरेश और सामन्त उनकी अधीनता स्वीकार करते थे।<sup>14</sup>

प्रतीहारों के साम्राज्य में राज्याधिकारियों के सामन्तीकरण की प्रबल प्रवृत्ति पायी जाती है—द्वितीय महेन्द्रपाल का बलाधिकृत कोट्ट परमेश्वर-पदोपजीवी कहलाता था। इसके दो समकालीन तन्त्रपाल तथा महादण्डनायक माधव महासामन्त कहलाते थे। एक नगर का शासक महासामन्ताधिपति की उपाधि से विभूषित था। राष्ट्रकूटों के साम्राज्य में राज्याधिकारियों को सामन्तवादी नाम और पदवी देने की प्रथा जोर से चल पड़ी थी। ध्रुव का महासन्धिविग्रहिक श्री मांदल्ल पंचवाधों के प्रयोग के अधिकार से सम्पन्न सामन्त था। प्रान्तीय शासकों को महासामन्त या महामण्डलेश्वर का दर्जा दिया जाता था। वे प्रायः राजा की उपाधि धारण करते थे।<sup>15</sup> कुछ विषयपति सामन्ती उपाधियां धारण करते थे। भुक्तियों या ताल्लुकों के प्रभारी अधिकारी या भोगपति भी कभी-कभी सामन्ती विरुद्ध धारण करते थे।

उच्च राज्य कर्मचारियों के नाम के साथ सामान्ती उपाधियों का प्रयोग संकेत करता है कि राष्ट्रकूटों के राज्य में सामन्त राजाओं के अतिरिक्त गैर-सैनिक और सैनिक दोनों वर्गों के राज्याधिकारियों को कोई न कोई सामन्ती दर्जा प्रदान किया जाता था।<sup>16</sup> ऐसा प्रतीत होता है कि जब तक किसी पद को सामन्ती स्तर नहीं प्रदान किया जाता था तब तक उसका अधिक महत्व नहीं होता था। प्रतिहारों के अभिलेखों में धर्मन्तर अनुदानों के अधिक उदाहरण नहीं मिलते किन्तु 89ई0 में प्रथम भोज ने गोरखपुर में प्रथम गुणसागर नामक कलचुरि सरदार को अनुदान-स्वरूप भूमि दी क्योंकि उसने गौड़ की श्री का अपहरण करके अपने प्रभु की बहुमूल्य सेवा की थी। द्वितीय महेन्द्रपाल विदग्ध के शासन काल में एक उच्च पदाधिकारी ने दो भूमि अनुदान पत्रों पर हस्ताक्षर किये हैं और ऐसा लगता है कि उसे अनुदान स्वरूप एक गांव मिला हुआ था। प्रतीहारों के एक गुर्जर सामन्त द्वारा दिये गये अनुदान से पता चलता है कि उसे धर्मन्तर अनुदान मिला हुआ था क्योंकि उसने अपने अधीनस्थ क्षेत्र को 'स्वभोगावाप्त वंश पोतक भोग' कहा है। इससे ज्ञात होता है कि शासक-कुटुम्ब का सदस्य होने के कारण उसके प्रतिहार प्रभु ने उसे व्यक्तिगत उपभोग के लिए वंशपोक क्षेत्र दे रखा था। उसके अनुदान पत्र से स्पष्ट है कि ग्रहीता को गुर्जरत्तरा भूमि में पड़ने वाले उस क्षेत्र के प्रशासन का भी दायित्व दे दिया गया था।

पाल अनुदानपत्रों में दो दर्जन भिन्न-भिन्न श्रेणियों के ऐसे अधिकारियों का उल्लेख है जिन्हें अनुदान की सूचना देनी पड़ती थी।<sup>17</sup> संभवतः किसी न किसी प्रकार से इनका सम्बन्ध राजस्व व्यवस्था से था। पालों के राज्य में विभिन्न श्रेणियों के कितने अधिकारी थे, इसका अनुमान लगाना तो कठिन है किन्तु "अशेष राज पुरुषान्" शब्द से प्रकट होता है कि उनकी संख्या पर्याप्त बड़ी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि पाल साम्राज्य के बंगाल और बिहार क्षेत्रों में से अधिकांश का प्रशासन स्थायी राज्याधिकारी चलाते थे जो साम्राज्य के विभिन्न हिस्सों में लोगों को केन्द्रीय सत्ता के अधिकार की अनुभूति कराते थे। प्रतीहार साम्राज्य में स्थिति इससे बिल्कुल भिन्न थी। प्रतीहार राजाओं द्वारा दिये गये अनुदानों में जिस एक मात्र अधिकारी का उल्लेख है वह है नियुक्त।<sup>18</sup> चूंकि उनके पास राज्य कर्मचारी कम थे, इसलिए उनका शासन संभवतः उनके सामन्तों के हाथ में था, जिस पर वे अपना पूरा नियंत्रण रखते थे। यह उल्लेखनीय है कि हमें जितने अधिकारी उनके द्वारा प्रत्यक्ष शासित प्रदेशों में देखने को मिलते हैं, उससे कहीं अधिक उनके सामन्तों के अधीनस्थ प्रदेशों में देखने को मिलते हैं, लेकिन यहां भी हमें कुल मिलाकर लगभग केवल छः प्रकार के अधिकारी देखने को मिलते हैं जबकि पाल भूमि-अनुदान पत्रों में दो दर्जन से भी अधिक प्रकार के अधिकारियों का उल्लेख मिलता है इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रतिहार सामन्तों अपने अधीनस्थ प्रदेश के शासन के लिए अपने-अपने उपसामन्त पर निर्भर करते थे। इस प्रकार न तो प्रतिहार राजा और न उनके अधीनस्थ सामन्तों राजा ही प्रशासन-तन्त्र का अधिक विकास कर पाये और फलतः

प्रतिहार साम्राज्य के अधिकांश भाग का प्रशासन संभवतः सामन्त लोग चलाते थे।

राष्ट्रकूट शासन प्रणाली में भी बहुत अधिक अधिकारियों की व्यवस्था नहीं थी क्योंकि प्रतिहारों की तरह राष्ट्रकूट राजा भी अपने अधीनस्थ सामन्त राजाओं और सामन्तों के द्वारा ही प्रशासन चलाते थे। राष्ट्रकूट अभिलेखों में पुलिस अधिकारियों के पदनामों के उल्लेखों के अभाव से भी यही निष्कर्ष निकलता है, केवल गुजरात के कर्कराज के अत्रोली-चरोली ताम्रपत्र में 'चोरोंधरणिकों' का उल्लेख हुआ है।<sup>19</sup> संभवतः महाराष्ट्र और गुजरात में शान्ति-सुव्यवस्था का दायित्व स्थानीय सामन्तों पर था जिससे राज्य कर्मचारी रखने की आवश्यकता नहीं रह जाती थी। सामन्तों का मुख्य कर्तव्य अपने प्रभु के प्रति निष्ठा रखना और उसकी सैनिक सहायता करना था। निष्ठा करने के लिए वे अपने अनुदान पत्रों में प्रभु के नाम का उल्लेख करते थे। चामान<sup>20</sup>, चालुक्य, गुहिलोत और कलचुरि सामन्त अपने प्रतिहार प्रभुओं को सैनिक सहायता देते थे। देवपाल के समय से पाल राजाओं द्वारा जारी किये गये सभी अनुदान पत्रों में ऐसा वर्णन मिलता है कि उनके जय-स्कन्धावारों में उत्तरी भारत के बहुत से अधीनस्थ नरपति अपनी-अपनी सेनाओं के साथ उनकी सेवा के लिए उपस्थित थे।

सामन्तों के अधिकारों एवं कर्तव्यों के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि राष्ट्रकूटों के अधीन सामन्तों को सामन्ती सिंहासन, चंवर, पालकी और हाथी का उपयोग करने की भी अनुमति दी जाती थी। लेकिन पालों और प्रतिहारों के राज्यों में हमें इस प्रथा की कोई जानकारी नहीं मिलती। किन्तु सामन्तों का एक महत्वपूर्ण अधिकार यह था कि वे अपने उपसामन्त बना सकते थे। बड़े-बड़े सामन्तों को अपने-अपने प्रभुओं को अधीनता की स्वीकृति स्वरूप कर देने पड़ते थे किन्तु अपने-अपने क्षेत्रों के राजस्व पर उनका निर्बाध अधिकार था। वे किसी की अनुमति के बिना गांव बँच सकते थे।

दसवीं सदी के उत्तरार्ध में गुर्जर प्रतिहार साम्राज्य के पतन के बाद उत्तरी भारत की राजनीतिक एकता छिन्न-भिन्न हो गयी और राजनीतिक सत्ता का विभाजन अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। 1000ई0 से 1200ई0 तक प्रभुसत्ता के लिए घोर संघर्ष चलता रहा।<sup>21</sup> बंगाल-बिहार के छोटे राज्य अपने पाल प्रभु की अधीनता नाम मात्र को ही स्वीकार करते थे। पालों ने केवल कैवर्ती से ही लड़ाई नहीं की, बल्कि बिहार के पश्चिमी हिस्से पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए कलचुरियों और गहड़वालों से भी लोहा लिया। उधर कलचुरि उड़ीसा के राजाओं, चन्देलों और गहड़वालों से जूझते रहे। गहड़वाल लोग चन्देलों और चाहमानों के साथ संघर्ष करते रहे और चाहमान राजा पृथ्वी राज ने चन्देलों के एक प्रमुख केन्द्र महोबा पर कब्जा कर लिया। इसी प्रकार परमारों ने चन्देल राज परमर्दिन को गहरी पराजय दी। वास्तव में बारहवीं, शताब्दी में उत्तरी भारत पर अपना प्रमुख स्थापित करने के लिए चन्देलों, गहड़वालों और चाहमानों का तितरफा संघर्ष खूब जमकर चला। उधर मालव-गुजरात और राजस्थान में परमार, चालुक्य और चाहमान भी आपस में बराबर लड़ते ही रहे। परमानों ने यदा हूणों से भी लोहा

लिया जिनके अधीन मालवा और राजस्थान के कुछ क्षेत्र थे। परन्तु इनका ही पर्याप्त नहीं था। दक्षिण से चोल और विशेषकर चालुक्य लोग भी कभी-कभी उत्तर भारत पर आक्रमण कर देते थे। उधर बंगाल में सेन और तिरहुट के कर्णाट, जिन्होंने चालुक्यों के साथ आकर उत्तर बिहार के अपना अधिपत्य स्थापित कर लिया था, अपास में जुझते रहे। पश्चिम में पंजाब में ब्राम्हण शाही वंश और गुजरात के चालुक्यों ने महमूद गजनी से डटकर लोहा लिया और चालुक्यों, चाहमानों तथा गहड़वालों ने मुहम्मद गोरी का मुकाबला किया।

इन बार-बार लड़ाइयों के प्रशासनिक एवं आर्थिक परिणामों को संभालने के लिए यह जानना आवश्यक है कि इनमें प्रत्येक राज्य, जो आधुनिक राज्य के प्रशासनिक विभाजनों के आकार वाले थे, स्वयं अपनी सेना, पुलिस व्यवस्था, कचहरी, कर व्यवस्था, न्यायपालिका, सामन्त, पुरोहित और मंदिर रखते थे।<sup>22</sup> इन सब का भार किसानों पर पड़ता था जो इस प्रकार के राज्यों की सुरक्षा में किसी प्रकार की रुचि नहीं रखते थे। पूर्व मध्यकालीन राजनीतिक विकेन्द्रीकरण या विखण्डन की प्रक्रिया को सामन्तवाद से समीकृत किया जाता है।<sup>23</sup> सामन्तवाद (पयूडलिज्म) कोई नया ऐतिहासिक शब्द नहीं है और इसका प्रयोग भारतीय इतिहास में उस किसी भी काल के लिए किया गया है, जिसमें राजनीतिक धरातल पर कोई 'एकात्मक साम्राज्य' (यूनीटरी इम्पायर) न हो। किन्तु पांचवे दशक से 'सामन्ती राजनीति' को कोई एक स्वतन्त्र सत्ता न मानकर एक ऐसी स्थिति माना जाने लगा है जिसमें भारतीय सामाजिक और आर्थिक जीवन में एक ढांचागत परिवर्तन हो गया। इस सामन्ती राजनीति का उद्भव दो तत्वों से सम्बन्धित किया जा सकता है—केन्द्रीकृत नौकरशाही से युक्त राज्य व्यवस्था का धीरे-धीरे विघटन एवं वेतन के स्थान पर भूमि अनुदान की व्यवस्था जिसमें व्यापक स्तर पर प्रशासनिक अधिकार स्थानान्तरित किये गये और राज्य के अधिकार पर आघात पहुँचाया गया। सामन्त (पयूडेटरी) व्यवस्था को पूर्व मध्यकालीन भारतीय राजनीति ढाँचे की प्रमुख विशेषता माना जाता है<sup>24</sup> और इस विचार की व्यावहारिक सत्यता को अस्वीकार किये जाने का कोई कारण नहीं है किन्तु इस विचार का गंभीर रूप से परीक्षण नहीं किया गया है कि किस प्रकार अधिकारियों को दिये गये लौकिक अथवा सेवा अनुदान सामन्त व्यवस्था के विकास में सहायक हुये। यह स्वीकार किया गया है कि सेवा-अनुदान के अभिलेखीय साक्ष्य की सामान्य तिथि सामन्ती राजनीति के उत्पत्ति के बाद की है।<sup>25</sup> इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भूमि अनुदान राजनीतिक आधिपत्य के सामान्य विधि के उत्कर्ष का एक पहलू है किन्तु पूर्वशर्त नहीं है। एक प्रशासनिक विधि के रूप में भूमि अनुदानों ने राज्य के अधिकार को विखंडित किया, राज्य को अपने राजस्व से ही नहीं अलग होना पड़ा अपितु अपने दण्डात्मक एवं प्रशासनिक अधिकार से भी।

परन्तु प्रादेशिक राज्यों की सामान्तवादी व्यवस्था (800ई0-1200ई0) में सारे राज्य को सामन्तों के बीच ही नहीं बाँट दिया जाता था। राजा भूमि का एक काफी बड़ा क्षेत्र राजकीय भूमि के रूप में अपने पास रख लेता था

जिस पर वह सीधा शासन करता था। प्रशासन की सुविधा के लिए राज्य प्रान्तों में विभक्त होता था और फिर हर प्रान्त अनेक निश्चित संख्या वाले ग्रामों की इकाइयों में बांटा जाता था। किसी भी प्रान्त में जागीरदारी की तथा राज्य की दोनों थी भूमि हो सकती थी। सामन्ती ढांचे में विविध स्तरों पर उप-सामन्तों की वृद्धि के कारण भूमि से प्राप्त होने वाली आय अनेक छोटे-छोटे टुकड़ों में बिखर जाती थी। इससे दोनों छोरों पर स्थित व्यक्तियों-कृषक और राजा की स्थिति दुर्बल हो गयी और बिचौलियों (मध्यवर्तियों) के हाथों में आय चली जाने से उन्हें क्षति उठानी पड़ती थी। बिचौलियों की संख्या में वृद्धि होने के कारण कृषकों को भूमिकर के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के कर भी देने पड़ते थे।

कुछ क्षेत्रों में ग्राम सभायें अब भी थी परन्तु उनकी अधिकांश शक्ति का लोप हो चुका था।<sup>26</sup> सामन्तों के ग्रामों में वे धीरे-धीरे समाप्त हो गईं और प्रतिनिध्यात्मक राजनीतिक संस्थाओं के रूप में उनका महत्व कुछ भी नहीं रहा किन्तु प्रत्यक्ष शासित ग्रामों में वे प्रशासन में सहायता देती थी। जिस प्रकार से राज्य की राजनीति धरातलीय स्तर पर विस्तृत हो रही थी और गण-संघ राजनीतिक व्यवस्था का विनाश हो रहा था।<sup>27</sup> उसी प्रकार आर्थिक स्तर पर धरातलीय रूप में ग्रामीण कृषक बस्तियों का विस्तार हो रहा था यद्यपि एक नगरीय अर्थव्यवस्था या सिक्कों की अर्थव्यवस्था के उत्कर्ष की प्रवृत्ति भी मिलती है।<sup>28</sup> सामाजिक स्तर पर भी वर्ण-जाति पर आधारित सामाजिक व्यवस्था धरातलीय स्तर पर व्याप्त भी यद्यपि कि सामाजिक ढांचे के संदर्भ में कुछ परिवर्तन भी हो रहे थे।

भूमि दानों और उपसामन्तीकरण के फलस्वरूप राजनीतिक सत्ता का जिस प्रकार श्रेणी विन्यास हुआ उसका प्रतिबिम्ब सामाजिक आर्थिक जीवन में भी देखा जा सकता है। याज्ञवल्क्य स्मृति पर मिताक्षरा एवं वीरामित्रोदय के भाष्य में एक ही भूखण्ड पर भू-अधिकारों के चार-चार सोपानवद्ध स्तरों का उल्लेख किया गया है-महीपति, क्षेत्रस्वामिन, कर्षक तथा उपकर्षक या पट्टेदार।<sup>29</sup> जमीन पर सोपान बद्ध नियंत्रण का उदय उपसामन्तीकरण की व्यापक प्रवृत्ति के कारण विशेष रूप से आठवीं सदी से प्रारंभ हुआ।<sup>30</sup> यह प्रक्रिया मार्क्स के इस महत्वपूर्ण कथन से मेल खाती है कि सामन्ती उत्पादन पद्धति की विशेषता अधिक से अधिक उपसामन्तों के बीच भूस्वामित्व का विभाजन है।<sup>31</sup>

भारतीय समान में श्रेणी-विन्यास का प्रारंभ वर्णों के उदय के साथ हुआ किन्तु सामन्ती श्रेणी-विन्यास का अपना अलग चरित्र था क्योंकि उसका आधार भूमि का असमान वितरण था। शिल्पग्रन्थ अपरजितपृच्छा में भूस्वामित्व एवं लौकिक सत्ता के आधार पर प्रमुख रूप से तीन प्रकार के वर्गों का सोपान क्रम में वर्णन मिलता है-खेत न जोतने वाले चारों वर्ण, कर्षक एवं प्रकृतियां।<sup>32</sup> पूर्व मध्यकालीन रचना मयमत नामक शिल्पग्रन्थ का विधान है कि चक्रवर्ती राजा का आवास ग्यारह मंजिल होना चाहिए, द्विजाति का नौ-मंजिला, नृप या साधारण राजा का सात मंजिला, वैश्यों तथा सैनिक अगुओं का

चौमंजिला, शूद्रों का एक से लेकर तीन मंजिला तक और सामंत-प्रमुख आदि का पांच-मंजिला।<sup>33</sup>

सामन्ती युग में युद्ध का दौर बराबर चलता रहता था जिसमें स्वभावतः पुरुष ही भाग लेते थे।<sup>34</sup> इसलिए इस काल में महिलाओं को उत्तरोत्तर अधिकाधिक निम्न स्थान देने और उन्हें सम्पत्ति मानने की प्रवृत्ति दिखाई देती है।<sup>35</sup> इस प्रकार सामन्ती दौर में पुरुषों के प्रभुत्व में अपूर्व वृद्धि होती है, और उनकी इस सम्पूर्ण श्रेष्ठता के परिणाम स्वरूप के प्रभुत्व में अपूर्व वृद्धि होती है, और उनकी इस सम्पूर्ण श्रेष्ठता के परिणाम स्वरूप स्त्रियों पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगते जाते हैं। यहां तक कि सती होना उनके लिए धर्म बना दिया जाता है। राजस्थान के अभिलेखीय साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि सती व्यवस्था सैनिक कुलों में सर्वाधिक थी।

सामन्ती श्रेणी विन्यास का प्रभाव धर्म एवं कला के क्षेत्र में भी देखा जा सकता है। बौद्ध धर्म के वज्रयान सम्प्रदाय में देवकुल की अवधारणा चतुःस्तरीय पिरामिड के रूप में की गई है जिसके तल पर पचीस बोधिसत्व आसीन थे। इन बोधिसत्वों के ऊपर सात मानुषी या मर्त्य बुद्ध अवस्थित थे जिनके ऊपर पांच ध्यानी या समाधिस्थ बुद्ध विराजमान थे। इस देवकुल के शीर्ष पर सत्ताधारी के रूप में वज्रसत्व प्रतिष्ठि किये गये थे।<sup>36</sup> इसी प्रकार तांत्रिक धर्म संघ का संगठन भी सोपानवद्ध सामाजिक संगठन पर किया गया। सामान्य दीक्षित जन सबसे निचले स्थान पर थे, जिन्हें साधक की संज्ञा दी गई है, जिनके ऊपर उपाध्याय आचार्य जैसे पांच और दर्जे थे।<sup>37</sup> ऐसी ही सोपान बद्धता मध्यकालीन जैन धर्म संघ में भी देखने को मिलती है। मध्यकालीन मंदिरों में भी अनेक स्तर मिलते हैं। वैश्वानसागम में मंदिर की सात स्तरीकृत संरचनाओं का विधान किया गया है।<sup>38</sup> जिस पर सोपान बद्धता का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है।

### निष्कर्ष

अतः उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि कृषि-जन्य अर्थव्यवस्था में ही मुख्यतः सामान्तवाद का उदय होता है। सामन्तवादी व्यवस्था में एक ओर भू-स्वामियों का एक वर्ग होता है और दूसरी ओर दासवत कृषकों का वर्ग। इस व्यवस्था के अन्तर्गत भू-स्वामी वर्ग सामाजिक, धार्मिक या राजनैतिक तरीकों से कृषि अधिेश का दोहन करता है। राजनैतिक विकेन्द्रीकरण की स्थिति ही भू-स्वामियों एवं पुरोहित वर्ग के लोगों को कृषक और सामान्य-जन के अथक परिश्रम और अल्प महत्वाकांसी प्रवृत्ति के आधार पर ही पनपने का अवसर प्रदान करती है। बड़े-बड़े भू-स्वामियों एवं ब्राह्मणों के अपने-अपने स्तर पर शासक वर्ग की सहायता सैनिक-सेवा के रूप में या धार्मिक अनुष्ठानों द्वारा 'शुभ' प्राप्त कराने के अर्थ में किया जाना ही मुख्यतः तत्कालीन समाज में 'सामन्तवाद' जैसी अपरिहार्य आवश्यकता को जन्म देने का आधार प्रतीत होती है। इस प्रवृत्ति ने पूर्वमध्यकाल के सामाजिक एवं आर्थिक ढांचे को स्वयं के अनुसार तय किये गये मापदण्डों से अपार एवं असहाय जन-समूह को स्वयं की आकांक्षाओं को पूरित करने के लिए वैधानिक एवं सामाजिक स्तर पर तैयार किया। इतना ही नहीं उपरोक्त विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि सामन्तवादी

समूह ने जन-सामान्य एवं कृषक के समक्ष स्वयं को तथाकथित शासक वर्ग के रूप में भी प्रस्तुत किया।

### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. चट्टोपाध्याय बी०डी०, 'स्टेट एण्ड एकोनॉमी इन नादर्न इण्डिया, फोर्थ सेन्युरी टू ट्वेल्फथ सेन्युरी', रिसेन्ट पर्सपेक्टिव आफ अर्ली इण्डियन हिस्ट्री, संपादन थापर, रोमिला, बम्बई, 1998, पृ 309
2. लहरी, बी, इनडिजिनस स्टेट्स आफ नादर्न इण्डिया (सिरका 200 बी-सी टू 320 ए०डी०), कलकत्ता, यूनिवर्सिटी आफ कलकत्ता, 1974
3. चट्टोपाध्याय, बी०डी०, वही, पृ 310
4. मजूमदार, आर सी, प्रिफेस, दि क्लासिकल एज, बम्बई, भारतीय विद्या भवन, द्वितीय संस्करण, 1962
5. चट्टोपाध्याय, बी०डी०, वही, पृ 311
6. चट्टोपाध्याय, बी०डी० "पोलिटिकल प्रॉसेस एण्ड स्ट्रक्चर आफ पालिटी इन अर्ली मेडुवल इण्डिया-प्राब्लम्स ऑफ पर्सपेक्टिव्स" अध्यक्षीय भाषण, प्रचीन इतिहास अनुभाग, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 44वां अधिवेशन, बर्दवान, 1983
7. हबीब, इरफान, इन्टरप्रेटिंग इण्डियन हिस्ट्री, शिलाग: नार्थ ईस्टर्न हिल यूनिवर्सिटी 1985.
8. रे, निहारंजन, बंगालीर इतिहास (आदि पर्व), (बंगाली में) 1950 तृतीय संस्करण, कलकत्ता, 1980, रे निहारंजन, "दि मेडुवरन फ़ैक्टर इन इण्डियन हिस्ट्री" अध्यक्षीय भाषण इ०हि०का, 29वां अधिवेशन, पटियाला.
9. कोसाम्बी, डी०डी०, ऐन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, बम्बई, 1956, कोसाम्बी, डी०डी०, "आन द डिवलपमेन्ट ऑफ फ्युडलिज्म इन इण्डिया, अनाल्स ऑफ भण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्सटीट्यूट, 36, 3-4, 258-69.
10. झा, वी "ऐसिएन्ट इण्डियन पोलिटिकल हिस्ट्री: पासिबिलिटीज ऐन्ड पिटफाल्स", सोशल साइंटिस्ट, 18, नं० 1-2 (200-201), 36-54.
11. शर्मा, आर० एस०, "ओरिजिनस ऑफ फ्युडलिज्म इन इण्डिया (ए०डी० 400-650), जे० सो० वॉल्यूम, 13, 197-328, "लैण्डग्रान्ट्स टू वेसेल्स एण्ड ऑफिसियल्स इन नदर्न इण्डिया" सी०ए०डी० 1000-1200, जे०सो०, वॉल्यूम 4, 70-105, इण्डियन फ्युडलिज्म सि० 300-1200 ए०डी०, यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता, 1965.
12. थापर रोमिला, भारत का इतिहास, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1981, पृ 183.
13. वर्मा, हरिचन्द्र, मध्यकालीन भारत (750-1540 ई०), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, पुनर्मुद्रण, 1987, पृ 5,7,12,17.
14. शर्मा, आर०एस० भारतीय सामन्तवाद (1973), पृ 98
15. अल्टेकर, ए० एस० दि राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स, पृ 173
16. शर्मा, आर० एस० इण्डियन फ्युडलिज्म, द्वितीय सं० पृ 78-79.
17. दि भागलपुर प्लेट ऑफ नारायण पाल, इ०ए०, पृ 304 और आगे पंक्तियां 30-36.
18. इ०, ए०, 15, 138.
19. अल्टेकर, ए०एस०, पूर्वोक्त,
20. मजूमदार, आर०सी० एण्ड ए०डी० पुसालकर, हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ इ०पी०, पृ 22-23, 27.
21. सतीशचन्द्र, मध्यकालीन भारत, एन०सी०आर०टी० 1990, पृ 48-52, वर्मा, हरिचन्द्र, मध्यकालीन भारत (750-1540), दिल्ली वि०वि०, पुनर्मुद्रित, 1987, पृ 7-27, 37,51-53, शर्मा आर० एस०, इण्डियन फ्युडलिज्म, पृ 129.
22. शर्मा, आर० एस०, पृ 129.
23. चट्टोपाध्याय, बी०डी०, अध्यक्षीय भाषण, पृ 3-4.
24. यादव, बी०एन०एस०, सोसाइटी एण्ड कल्चर.....3.
25. शर्मा, आर०एस०, 'लैण्ड ग्रान्ट्स टू वेसेल्स एण्ड ऑफिसियल्स इन नादर्न इण्डिया सि०ए०डी० 1000-1200, जर्नल ऑफ द एकोनॉमिक एण्ड सोशल हिस्ट्री ऑफ द ओरिन्ट, 4(1961), 70-71, शर्मा आर०एस० राज शासन-मीनिंग, स्कोप एण्ड अप्लीकेशन, प्रो०इ०हि० कांग्रेस 37वां अधिवेशन, 1976, 76,87, यादव, बी०एन०एस०, 'सेक्युलर लैण्ड ग्रान्ट्स ऑफ द पोस्ट गुप्ता पीरिएड एण्ड सम ऐसेपक्ट्स ऑफ द ग्रोथ ऑफ फ्युडलिज्म इन ऐसिएन्ट इण्डिया, सं० डी०सी० सरकार, यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता, 1966, 1966, पृ 72-94, आर०एस० शर्मा, 'इण्डियन फ्युडलिज्म रीटर्न्स, दि इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, 1. 2 (1974), 320-330.
26. पृ 187, शर्मा, दशरथ, पृ 230-233.
27. चट्टोपाध्याय, बी०डी० पृ 6.
28. पृ 10, शर्मा, दशरथ, वही, अध्याय, गट्ट, शर्मा, आर०एस० पर्सपेक्टिव्स इस सोशल एण्ड एकोनामिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, दिल्ली, 1983, अध्याय-10.
29. मिताक्षरा एवं वीर मित्रोदय भाष्य-याज्ञवल्क्य, पृ 158, शर्मा, आर० एस० इण्डियन फ्युडलिज्म, द्वितीय संस्करण, पृ 38-39.
30. शर्मा, पृ 73-75, 185-187.
31. मार्क्स-एंगेल्स, प्री-कैपिटलिस्ट सोशियो-एकोनामिक फार्मेशन्स, मास्को, 1979, पृ 22.
32. दुबे, लालमणि, अपराजित पृच्छा-ए क्रिटिकल स्टडी, पृ 452-455.
33. मयमत, XXIX, 80.2.
34. शर्मा, आर०एस० पूर्वमध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, पृ 218.
35. शर्मा, आर०एस० प्रारंभिक भारत का सामाजिक और आर्थिक इतिहास, (दिल्ली, पुनर्मुद्रित, 2000), पृ 61-63, शर्मा, आर०एस० पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज.....पृ 218.
36. भट्टाचार्य, विनयतोष, दि इण्डियन बुद्धिष्ट आइकोनोग्रैफी, कलकत्ता, 1958, अध्याय 1, II.
37. शर्मा, आर०एस० पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज, पृ 216-117.
38. राव, गोपीनाथ, एलीमेन्ट्स आफ हिन्दू आइकोनोग्रैफी, जि० 1, भाग 2, परिशिष्ट 'ए', पृ 1-2।